भारतीय समाज विज्ञानों में शोध : कुछ चिंताएं

अरुण चतुर्वेदी

1

वर्तमान संदर्भों में भारतीय समाज जिन बदलावों के दौर से गुजर रहा है तथा जो त्वरन (Excitement) और हिंसा का विस्तार हो रहा है वह कई राजनीतिक, सामाजिक और वैचारिक प्रश्नों का केवल उठाता ही नहीं है वरन उसमें स्पष्टीकरणों की आवश्यकता का अहसास भी गंभीरता के साथ हो रहा है। यहां दो प्रश्न स्वयं भारत की अवधारणा से ही जुड़े हैं जिन्हें समाज विज्ञानवेत्ताओं को अपने विमर्श में सम्मिलित करना ही होगा। पहली भारत की परिकल्पना से है जिसका आवश्यक स्वरूप एक बहुलवादी समाज, सांस्कृतिक और विचार-पद्धति से रहा है। जिसकी दो अभिव्यक्तियों को तो अभी याद किया जाना आवश्यक है। पहली अभिव्यक्ति को नेहरूवादी कहा जा सकता है जहां भारत विभिन्नताओं में एकता के सूत्र को जोड़े हुए है और जहां भारतमाता का

विकार कोई भौतिक सीमाओं से नहीं जुड़ा है बरन वहां रहने वाले असंख्यक लोगों से है जो हर तरह की विभिन्नता को लिए भी एकता के सूत्र में बंधे हैं। इस प्रसंग को चर्चा 'भारत एक खोज' में नेहरू ने विस्तार से की है, यों नेहरू की भारत प्रशासन और गुणगान अपने में एक अध्ययन अनुभव है। दूसरी परिकल्पना भारतीय विकार और मन के एक-दूसरे से मिले होने की और गूंथे होने की बात को लेकर है जिसकी चर्चा लोहिया ने अपने विचारों में की है। एक प्रभावी समन्वय की और एक-दूसरे में मिल जाने की जहां भारतीयता से अलग कोई अलग स्वरूप ही नहीं है इन्हीं कल्पनाओं के बीच एक विचार भारत की एकता का ऐसा है जिसमें एक भाषा, एक धर्म और एक भूषा की बात कही जाती है। यह विचार सोच की इस धारा के विपरीत है जहां सबका एक होना, एक रूप और एक विचार क्रम में बंध जाना, भयावह राजनीतिक प्रक्रियाओं को जन्म देगा। वर्तमान संदर्भ में इस परिकल्पना के सभी विकल्पों, उनके परिणामों और उसके स्वरूप पर शोध की नयी प्राथमिकताओं का निर्धारण गलत नहीं होगा।

2

समाज विज्ञानों में विशेषकर जो राजनीति, समाज व्यवस्था और सत्ता प्रबंधन से जुड़े उनकी चिंता सूची में राज्य एक बड़ी प्राथमिकता है। राज्य को लेकर जो विकार हैं उनमें राज्य के अपने पराभव की बात तो है ही किंतु उसके साथ-साथ राज्य को लेकर भी कई संशय हैं। यों इसमें कतिपय चिंताएं तो विकसित समाजों और उसे लेकर राज्य के साथ बदले समीकरण भी हैं। वैसे विकासशील समाजों में राज्य की आवश्यकता को लेकर अलग-अलग विचारक्रम हैं, किंतु यह तथ्य सर्वविदित है कि सामाजिक अंतराल और सामाजिक वंचनाओं के कारण यहां राज्य की भूमिका को पूरी तरह से नकारा नहीं जा सकता है। लगता यही है कि यहीं से विकासशील समाजों में समाज विज्ञानों की शोध की मुख्य दुविधा उभरकर सामने आती है जिसमें सामाजिक और आर्थिक बंधनाओं को दूर करने में राज्य की सक्रिय भूमिका और शिक्षा और सामाजिक चेतना के विस्तार के साथ राज्य की भूमिका पर लगातार प्रश्नचिह्न लगते हैं और राज्य के वर्चस्व और राज्य के पराभव दोनों की स्थितियों को जन्म देते हैं। यह स्वीकार करना गलत नहीं होगा कि भारत के वर्तमान संदर्भ इसी दुविधा का आभास देते हैं। इसीलिए राज्य की भूमिका और प्रभावों के साथ-साथ उसकी अक्षमताओं, उसकी सीमाओं और उसकी दक्षताओं और भ्रष्टाचार पर लगातार प्रतिकूल चर्चा है। राज्य के संदर्भ में ही व्यक्ति एवं 'नागर समाज' पर भी चर्चा की जा सकती है या भारतीय परंपरा में व्यक्ति से प्रसंग में, उसकी स्वतंत्रताओं और उसकी अभिव्यक्ति से जुड़े प्रश्नों पर व्यक्ति के पक्ष में कोई लंबी परंपरा नहीं है, क्योंकि उसे सामाजिक संदर्भों में ही देखा जाता रहा है। वर्तमान में व्यक्ति की स्वतंत्रता और राज्य दोनों को ही लेकर नई बहस और शोध की आवश्यकता को समझना अनिवार्य लगता है। नागर समाज के प्रश्न मूलतः राजनीतिक, सामाजिक और अधिकारों से जुड़े प्रश्नों से है जिनका विस्तार विकासशील समाजों में राज्य के लिए चुनौती का निर्माण भी करते हैं, किंतु जिन समूहों में नागर समाज चेतना विशेषकर अधिकारों के प्रति जागरूकता पैदा करते हैं वह उन समूहों में नया विश्वास और राजनीतिक शक्ति के प्रयोग के अवसरों में विस्तार के लिए भी आवश्यक है। इसमें महिला और आदिवासी समूहों की चेतना विशेष आकर्षण का कारण है और यदि समाज विज्ञान शोध में यह नयी चेतना नए प्रश्नों का आरंभ कर पाती है तो वह एक सजग राजनीतिक सक्रियता और चेतना के रूप का विस्तार होगी।

3

वर्तमान समय में शोध को निर्धारित करने वालों में बाजार की भूमिका को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यों बाजार चाहे वह स्थानीय हो या अंतर्राष्ट्रीय वो बहुत ही सटीक तरीके से अपने आप को नियोजित किए हुए है। बाजार के शोध की

एक दिशा तो कम लागत में अधिक से अधिक क्षमताओं में विस्तार की है, यही नहीं बहुत तेजी से सूचनाओं के आदान-प्रदान की है और पारदर्शिता पर ही आग्रह कम नहीं है। दूसरी ओर बाजार अपने में सभी समूहों को जोड़ने में भी गहरी रुचि ले रहा है। यहां विस्तार इस बात का सूचक है कि अधिक समूह बाजार को विस्तार प्रदान करते हैं और जितना बड़ा बाजार हो उतना अधिक लाभ। इसी से जुड़े शोध में अधिकाशतः प्रबंधन संस्थान लगे हैं, वे अपने आर्थिक शोध विशेषकर सांख्यिकी के प्रभावी उपयोग के फलस्वरूप शोध की भाषा को न केवल एक बदलाव दे रहे हैं, बल्कि उसकी व्याख्या अपने अर्थों में करते हैं। इन संस्थानों में शोध में स्थानीय परंपरा, नए विस्तार और नए बाजार की परिकल्पना और आर्थिक विस्तार महत्त्वपूर्ण है। बाजार का विस्तार एक और नए उपभोक्ता को तैयार कर रहा है जिसकी विशेषता एक ओर प्रचुर संग्रह है तो दूसरी ओर संसाधनों को जुटाने की क्षमताओं की खोज भी है। विकासशील देशों में जिनमें भारत भी सम्मिलित है राज्य के नियमों और खुली व्यवस्थाओं के बीच बाजार और बाजार की प्राथमिकताएं जुड़ी हैं।

समाज विज्ञानों के शोध से जुड़े भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों (आई.आई.टी.) की भूमिका पर बात करना ठीक ही है क्योंकि ये संस्थान मानविकों के क्षेत्र में लगातार प्रयोग कर रहे हैं, वैसे इन संस्थानों में मानविकों में समाज विज्ञान भी जुड़ा है। यो इन संस्थानों में देश की श्रेष्ठ प्रतिभाएं अध्ययनरत हैं और उनका इन अध्ययनों से जुड़ना, इनमें गुणात्मक बदलाव कर सकती है। यों इन संस्थानों में बदलाव का माध्यम प्रौद्योगिकी के उपयोग से जुड़ा है और ऐसी प्रौद्योगिकी जो भारत को उसकी बंधनाओं से मुक्ति दे सकें, उन्हीं की खोज और प्रयोग इन संस्थानों का मूल्य आधार रहा है। इन शोधों के प्रकाशन के अभाव में आकलन तो कठिन है, किंतु यह आकर्षक लगता है कि एक बहुत ही प्रतिभासंपन्न वर्ग के शोध सरोकार उसकी सामाजिक प्रांसगिकता को बढ़ाएंगे।

पिछले दो दशकों से निजी विश्वविद्यालय और बड़े व्यापारिक संस्थानों से जुड़े प्रतिष्ठान भी सामाजिक सरोकारों और समाज विज्ञानों की शोध में हस्तक्षेप कर रहे हैं। सबसे पहले निजी विश्वविद्यालयों के शोध पर चर्चा की जाए, जहां यह कहा जा सकता है कि कतिपय विश्वविद्यालयों में हस्तक्षेप प्रशंसनीय है और वे शोध को और अनुभवपरक और प्रांसगिक बनाने की दिशा में कार्य कर रहे हैं। एमेटी, जिंदल और अजीमजी प्रेमजी विश्वविद्यालय के उपयोगी प्रयासों का उल्लेख तो हो सकता है, किंतु कतिपय निजी विश्वविद्यालयों में शोध जिसमें सामाजिक विज्ञानों की शोध भी सम्मिलित है, न केवल स्तरहीन है वरन् जिन तरीकों से वह दी जा रही है वह संदेहास्पद है और एक और व्यापार से अधिक नहीं।

शोध विशेषकर सामाजिक विज्ञानों का शोध यदि वह प्रामाणिक है तो विशेषकर सामाजिक और आर्थिक नीतियों को प्रभावित करने की व्यापक क्षमता रखते हैं। इस दृष्टि से विकास, वैश्वीकरण और पर्यावरण जैसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर भारत में शोध से केवल भारतीय संस्थान ही नहीं वरन् विदेशी शोध संस्थान भी जुड़े हैं, जिनके द्वारा भारत में हो रहे बदलावों की, उनके प्रभावों की और उनसे जुड़ी विभिन्न रणनीतियों की बात ही नहीं कही जा रही बल्कि उनसे संबंधित अनेक निर्भीक अध्ययन और निष्कर्ष प्रकाश में आ रहे हैं। हमारे लिए चिंता का विषय यह है उनकी दृष्टि और उनके आकलन कितने स्वतंत्र हैं और अपने स्वयं की संस्था के हितों को कितने अर्थों में पूर्ण करते हैं। यह चिंता इसलिए भी कि वर्तमान समय में यह पता लगाना कठिन है कि जिन विषयों में शोध हो रही है और जिन प्रश्नों को उठाया जा रहा है, उनमें किन समूहों का पैसा लगा है और उसके प्रयोजन क्या हैं। यह राशि राज्य सरकारों की, उनके सैन्य और गुप्तचर संगठनों या अन्य आंतकवादी समूहों की हो सकती है। बढ़ते हुए अंतर्राष्ट्रीय विस्तारों में एक निरंतर प्रभावी विवेकपूर्ण नियंत्रण की आवश्यकता तो है ही।

4

भारतीय विश्वविद्यालयों में सामाजिक विज्ञानों की शोध का आकलन आवश्यक है क्योंकि इसका विस्तार बहुत अधिक है और उसकी विभिन्नताएं अधिक हैं। हम केवल अपनी कुछ चिंताओं का ही उल्लेख कर सकते हैं। हमारी पहली चिंता तो भाषायी है क्योंकि विश्वविद्यालयों में शोध केवल अंग्रेजी भाषा में ही नहीं हो रहा है वरन् भारतीय भाषाओं और हिंदी में भी हो रहा है, जो इस संभावना को लगातार बनाए रखती है कि भाषाओं में जो अंतराल है, जो मुहावरे हैं जो प्रयोग हैं वे शोध की क्षमताओं को भी प्रभावित करते हैं। आग्रह तो यही किया जा सकता है कि एक स्तरीय मानक भाषा भारतीय संदर्भ में शोध में स्तर को बनाए रखने में सहायक होगी, अन्यथा समाज विज्ञानों की शोध भाषायी निरंकुशता की शिकार हो सकती है। विश्वविद्यालयों में संदर्भ में दूसरी चिंता शोध के विस्तार की है क्योंकि शोध की प्रवेश नीति के विस्तार का यह प्रभाव है कि वर्तमान में शोधकर्ताओं की संख्या बड़ी है और शोध करने वाले सभी एक सामान्य परीक्ष के दौर से गुजर कर आए हैं, यानी उनका स्तर कमज़ोर है तो वह विश्वविद्यालय की क्षमताओं का सीधा परिणाम है। यही नहीं शोध निदेशकों की पर्याप्त संख्या में उपलब्धता भी नहीं है क्योंकि लंबे समय तक विश्वविद्यालयों में अध्यापकीय भर्ती ही नहीं हो पाई। ऐसी स्थिति में जो प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय हैं वहां तो स्तर की समस्या नहीं है किंतु जिन विश्वविद्यालयों में संकायों का अभाव है, वहां समाज विज्ञानों की शोध एक नई प्रकार की अराजकता पैदा कर रहे हैं। यह अराजकता भाषा, विषय और दृष्टितीयों से ही जुड़ी विश्वविद्यालयों को लेकर है। तीसरी चिंता विश्वविद्यालय के संसाधनों से है। कई विश्वविद्यालयों में अकादमिक संसाधनों का अभाव है तो उसकी स्पष्ट छाप विश्वविद्यालय में शोध स्तर पर भी नजर आती है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि विश्वविद्यालय अपने संसाधनों का विस्तार करें, जिसमें प्रभावी और संपन्न पुस्तकालय प्रमुख आवश्यकता है। उत्तर भारत और भारतीय भाषाओं में अपने संसाधन को विकसित न करने का सीधा प्रभाव शोध क्षमताओं पर होगा जिनमें समाज विज्ञान भी सम्मिलित है।

5

भारतीय सामाजिक अनुसंधान परिषद्, (आई.सी.एस.एस.आर.) दिल्ली की बातचीत समाज विज्ञानों की शोध के संदर्भ में करना अपरिहार्य है क्योंकि यह राष्ट्रीय स्तर पर समाज विज्ञान की शोध को रूप देने वाला मुख्य माध्यम है। पिछले कुछ वर्षों में इस संस्थान के शोध संसाधनों में विशेषकर वित्तीय संसाधनों में वृद्धि हुई है और उसके प्रभाव भी स्पष्ट तौर पर नजर आते हैं। वैसे वर्तमान में समाज विज्ञानों की शेष में उन समूहों को जोड़ा है जो अन्यथा वंचित कहकर अकादमिक कार्यों से दूर रखे जाते थे। इस जुड़ाव से परिषद् के शोधस्वरूप में न केवल बदलाव आया है वरना यह प्रयास भी रहा कि यह समूह परिष्कृत शोध से जुड़े। वैसे यह त्वरन बदले हुए राजनीतिक परिवेश का भी परिणाम है, किंतु इससे नए शोधकर्ताओं को आगे आने का मौका मिला है। इसके साथ-साथ परिषद् ने अपने विस्तार के लिये शोध क्षमताओं के विकास के लिए शालाओं का आयोजन किया है जिसमें नई शोध क्षमताओं के साथ समाज विज्ञानों में युग समाज विज्ञान वेता जुड़ेंगे और समाज विज्ञानों के लिए एक रचनात्मक ऊर्जा का निर्माण होगा। आवश्यकता तो इस बात की है कि यह प्रयोग लंबे समय चले और साथ ही साथ प्रयोग की क्षमताओं का लगातार आकलन किया जाय क्योंकि इस ऊर्जा को निर्देशन विहीन नहीं छोड़ा जा सकता है।

समाज विज्ञानों पर शोध की इस चर्चा को अंत नहीं वरन आरंभ माना जाए जिससे हमारे सामाजिक, आर्थिक और तकनीकी बदलावों और उनका समाज पर प्रभाव तथा वैचारिक विस्तार का सही आकलन हो सके।